# इकाई 4: लोकसाहित्य :अध्ययन परंपरा और विस्तार

## इकाई की रूपरेखा:


4.1 उद्देश्य
4.2 प्रस्तावना
4.3 लोक संस्कृति परंपरा और क्षेत्र
4.4 हिंदी साहित्य में लोक संस्कृति
4.5 लोक संस्कृति के विविध पक्ष
4.6 सारांश
4.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा)
4.8 अधिक जानने के लिए पढ़े
4.9 अभ्यास-प्रश्न


## 4.1 उद्देश्य:

**इस इकाई के अध्ययन से अध्येता—**

- लोक संस्कृति परंपरा और क्षेत्र के संबंध में ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- हिंदी साहित्य में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति के विविध पक्षों को समझ सकेंगे।
- लोक संस्कृति के विविध पक्ष के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- लोक संस्कृति में चित्रित सृजनात्मक चेतना और जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति से अवगत होंगे।
- लोक संस्कृति में निहित मानवीय मूल्यों से अवगत हो सकेंगे।

## 4.2 प्रस्तावना:

प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है, और उस पहचान का मूल उसकी संस्कृति में निहित रहता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का परिचय उसके आचरण और व्यवहार से मिलता है, उसी प्रकार किसी समाज या समुदाय का परिचय उसकी संस्कृति से स्वतः प्राप्त हो जाता है। संस्कृति केवल रीति-रिवाजों या परम्पराओं का संग्रह नहीं होती, बल्कि यह उस समाज की आत्मा होती है, जिसमें उसके विश्वास, विचार, भावनाएँ, अनुभव, रहन-सहन, खान-पान, पहनावा और सामाजिक मूल्य समाहित रहते हैं। यही सभी तत्व मिलकर जब जनता के जीवन से प्रत्यक्ष रूप में जुड़ते हैं, तब वे "लोक संस्कृति" का रूप धारण कर लेते हैं। लोक संस्कृति मूलतः सरल, प्राकृतिक, सामूहिक और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही प्रथाओं, परम्पराओं,

मान्यताओं, रिवाजों, लोक-विश्वास, उत्सव-त्यौहार, खान-पान, वेश-भूषा का प्रतिबिंब है। इस इकाई में लोक संस्कृति के विविध पक्ष एवं क्षेत्रों का विस्तृत रूप में चर्चा की गई है।

## 4.3 लोक संस्कृति परंपरा और क्षेत्र:

लोक संस्कृति किसी अमूर्त या कल्पनात्मक अवधारणा का नाम नहीं है, बल्कि इसका एक ठोस और सुगठित स्वरूप होता है। यह जीवन के प्रत्येक पक्ष से जुड़ी हुई ऐसी जीवंत प्रक्रिया है, जो पीढ़ियों से निरंतर प्रवाहित होती आ रही है। राजेश्वर उनियाल ने ठीक ही कहा है कि लोक संस्कृति पर विचार करने के लिए उसके 'शरीर विज्ञान' को समझना आवश्यक है।अर्थात् उसकी संरचना, उसके अंग-प्रत्यंग, और उसके जीवंत तत्वों को जानना जरूरी है। लोक संस्कृति को केवल ग्रामीण या असभ्य कहकर सीमित कर देना उसके वास्तविक स्वरूप के साथ अन्याय हैन केवल ग्राम्य जीवन का प्रतीक है, बल्कि जनमानस की सृजनात्मक चेतना और जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति भी है।

अंग्रेज़ी शब्द Folklore का हिन्दी पर्याय "लोक संस्कृति" माना गया है। हिन्दी के प्रख्यात विद्वान हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी इस शब्द को स्वीकार करते हुए कहा था कि "फोकलोर" के स्थान पर "लोक संस्कृति" अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसके उच्चारण मात्र से ही हमारे मन में जनजीवन की झलक और उसकी सांस्कृतिक छवि उभर आती है। भारतीय चिंतकों के अनुसार लोक संस्कृति उस सामूहिक संस्कृति का प्रतीक है जो लोक के द्वारा, लोक के लिए और लोक के माध्यम से अस्तित्व में आती है।

भारतीय समाज में लोक संस्कृति को लेकर अक्सर यह भ्रांति देखी जाती है कि यह केवल गाँवों या तथाकथित पिछड़े वर्गों तक सीमित है। कुछ लोग इसे नगरों की शिष्ट या अभिजात्य संस्कृति के विपरीत मानते हैं, परन्तु यह दृष्टिकोण संकीर्ण है। लोक संस्कृति न तो किसी एक वर्ग की संस्कृति है, न किसी क्षेत्र विशेष की संपत्तिउस साझे जीवन का प्रतीक है जो सामूहिक अनुभवों, श्रम और संवेदनाओं से निर्मित होता है। इसमें टोटकों, उत्सवों, कहावतों, लोकगीतों, परिधानों, पर्व-त्योहारों और लोककथाओं के साथ-साथ समाज के नैतिक-धार्मिक मूल्यों की भी गहरी छाया रहती है। डॉ.कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक संस्कृति को सर्वाधिक व्यापक रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार, "लोक संस्कृति में वे सभी आचार-विचार, रहन-सहन, प्रथा-परम्परा, धर्म-कर्म, खान-पान, वेश-भूषा, पूजा-पाठ, विधि-निषेध और सामाजिक आचरण सम्मिलित हैं जो लोकजीवन से संबंधित हैं।" इस दृष्टि से लोक संस्कृति समाज का वह दर्पण है जिसमें उसकी जीवनशैली और मानसिकता का वास्तविक चित्र दिखाई देता है।

लोक संस्कृति का सबसे सजीव रूप उसके लोकसाहित्य में प्रकट होता है। लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोकनाट्य और लोकसुभाषित–ये सभी लोकसाहित्य के प्रमुख अंग हैं। ये रचनाएँ किसी एक व्यक्ति की नहीं होतीं, बल्कि समाज की सामूहिक

चेतना का परिणाम होती हैं। लोकगीतों में जनता की पीड़ा, आनंद, श्रम और प्रेम की झंकार सुनाई देती है; लोककथाओं में उसके अनुभव, लोकनाट्यों में उसकी सामाजिक व्यंग्य-बोध और उत्सवप्रियता,तथा लोकसुभाषितों में उसकी जीवन-दृष्टि और व्यावहारिक बुद्धि परिलक्षित होती है इसीलिए लोकसाहित्य और लोक संस्कृति को एक-दूसरे से अलग करना असंभव है। दोनों का संबंध शरीर और आत्मा जैसा है।

चीनी लेखक फेंग जाइकाइ ने लोक संस्कृति के तीन मुख्य तत्व बताए हैं– लोकपरिधान, लोकसाहित्य और लोककला। वस्त्र, गीत, नृत्य, नाट्य, मूर्तिकला, चित्रकला, हस्तशिल्प आदि लोककला के माध्यम से जनता की सृजनशीलता और सौंदर्यबोध प्रकट होते हैं। इन कलाओं में कृत्रिमता नहीं होती, वे स्वाभाविक रूप से जीवन का हिस्सा बन जाती हैं। यही कारण है कि लोक संस्कृति में जीवन की सादगी, आत्मीयता और सामूहिकता का भाव गहराई से दिखाई देता है।

लोक संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी सामूहिकता है। किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं, बल्कि पूरे समाज का सामूहिक अनुभव है। लोकगीतों की रचना में कोई एक लेखक नहीं होता; वे पीढ़ियों से लोकमानस में रचे-बसे होते हैं। इस सामूहिक सृजन का आनंद भी साझा होता है। लोक संस्कृति साझा संस्कृतिकी भावना को जन्म देती है, जो लोगों को एक सूत्र में बाँधती है और समाज में सहअस्तित्व की भावना जगाती है। डॉ. संतराम देशवाल के अनुसार "जो संस्कृति लोक की होती है, लोक के द्वारा होती है और लोक के लिए होती है, वही लोक संस्कृति कहलाती है।" भारत का अधिकांश लोक गाँवों में बसता है, इसलिए ग्रामीण संस्कृति को ही लोक संस्कृति का प्रमुख प्रतिनिधि माना जाता है। शहरी संस्कृति जहाँ भौतिकता और प्रतिस्पर्धा की जननी है, वहीं ग्रामीण संस्कृति आत्मिक शांति, सादगी और सामाजिक सौहार्द की प्रतीक है। आधुनिकता और शहरीकरण के प्रभाव से गाँवों की यह आत्मीय परंपरा धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। लोककलाएँ, लोकगीत, लोकनृत्य और लोकरंजन के अन्य रूप अब विलुप्ति की कगार पर पहुँच रहे हैं।

भारतीय संस्कृति का आधार भी लोक संस्कृति ही है। यदि भारतीय संस्कृति एक विशाल वृक्ष है, तो उसकी शाखाएँ लोक संस्कृति हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, दिनकर और हरिशंकर परसाई जैसे रचनाकारों ने अपने-अपने साहित्य में लोक संस्कृति के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि संस्कृति का मूल रूप लोक संस्कृति है। वही जन-जीवन की ऊर्जा और जीवन-दर्शन को अभिव्यक्त करती है। प्राचीन काल से ही भारतीय संस्कृति में दो प्रवृत्तियाँ समानांतर रूप में चली आ रही हैं-एक अभिजात्य या शिष्ट संस्कृति, और दूसरी लोक संस्कृति। शिष्ट संस्कृति वह है, जो शिक्षित वर्ग कीवैदिक-पौराणिक ज्ञान और बौद्धिक विकास की संस्कृति है। इसके विपरीत लोक संस्कृति वह है, जो सामान्य जनमानस की प्रेरणा से उपजी, जो जीवन की सरलता और प्रकृति के निकटता से जुड़ी हुई है। यदि अथर्ववेद को

लोक संस्कृति का परिचायक माना जाए, तो सामवेद संगीत-प्रधान होने के कारण लोकानंद की अभिव्यक्ति है। संगीत, नृत्य और गीत लोक संस्कृति के अत्यंत आवश्यक अंग हैं; ये ही लोकमन को आनंदित करते हैं और उसकी जीवनशक्ति को जागृत रखते हैं।

इतिहास साक्षी है कि भारत पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए, परन्तु इस देश की संस्कृति को कोई मिटा नहीं सका। इस बात का प्रमाण है कि भारतीय लोक संस्कृति में असाधारण जीवटता और आत्मशक्ति निहित है। भारत की उदारता, सहिष्णुता और "सर्वधर्म समभाव" की भावना ने विभिन्न संस्कृतियों और समुदायों को यहाँ अपनापन दिया। यही कारण है कि भारत की लोक संस्कृति आज भी अपने मूल स्वरूप में जीवित है। यह भी उल्लेखनीय है कि अभिजात्य ग्रंथों में भी लोक संस्कृति की छाया देखी जा सकती है। उपनिषद जैसे दार्शनिक ग्रंथ यद्यपि उच्च सांस्कृतिक वर्ग के माने जाते हैं, फिर भी उनमें लोकजीवन के अनेक संदर्भ मिलते हैं। गृहसूत्रों को तो लोक संस्कृति के कोश माना गया है। पालि जातकों में, संस्कृत नाटकों में, और प्राचीन कवियों की रचनाओं में लोक-जीवन की झलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोक संस्कृति भारत के प्राचीन जीवन की अविरल धारा है, जो आज भी गाँवों की मिट्टी में, लोकगीतों की धुनों में, त्योहारों की रंगत में और लोककला के रंगों में प्रवाहित हो रही है। यह न केवल हमारे अतीत की स्मृति है बल्कि हमारे वर्तमान और भविष्य की पहचान भी है। जब तक लोक संस्कृति जीवित है, तब तक भारतीय संस्कृति की आत्मा भी जीवित रहेगी। यही वह सांस्कृतिक परंपरा है, जो हमारे क्षेत्रीय वैविध्य को एकता के सूत्र में पिरोती है और हमें बताती है कि विविधता में ही भारत की सच्ची शक्ति छिपी हुई है।

## 4.4 हिंदी साहित्य में लोक संस्कृति:

हिंदी साहित्य में लोक-संस्कृति को समाज का दर्पण कहा गया है, क्योंकि समाज में घटित प्रत्येक घटना साहित्य में किसी न किसी रूप में प्रतिबिंबित होती है। हर समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है और उस संस्कृति की झलक उस काल के साहित्य में स्पष्ट दिखाई देती है। इसी कारण समाज की पहचान उसकी संस्कृति से तथा संस्कृति का परिचय उसके समाज से प्राप्त होता है। किसी भी लोक-साहित्य के संरक्षण के लिए सबसे पहले उसकी लोक-संस्कृति का गहन अध्ययन आवश्यक माना गया है,क्योंकि साहित्य समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

किसी भी समाज में लोक-संस्कृति का विशेष महत्व होता है, क्योंकि संस्कृति लोक-जीवन से जुड़ी होती है और वही संस्कृति लोक-साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। साहित्य के संदर्भ में डॉ. राजेश्वर उनियाल का मत है कि रेमण्ड विलियम्स ने साहित्य को संस्कृति का प्रमुख रूप माना है। उनका कहना है कि साहित्य-सिद्धांत को

संस्कृति-सिद्धांत से अलग नहीं किया जा सकता। हिंदी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों में भी यह दृष्टिकोण स्पष्ट दिखाई देता है। उनकी लोकमंगल की अवधारणा और हृदय की मुक्तावस्था दोनों का सांस्कृतिक आधार है। भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन और जीवन्त परम्परा वाली संस्कृति है। इसकी जड़ें हजारों वर्षों पुरानी हैं और इसका पोषण ऋषि-मुनियों ने किया है। इस संस्कृति का समन्वित स्वरूप एक ओर संस्कृत साहित्य के रामायण, महाभारत, गीता तथा कालिदास, भवभूति, भास, माघ, दण्डी आदि के काव्यों और नाटकों में मिलता है, तो दूसरी ओर हिंदी संत-साहित्य में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

**स्मरणीय बिंदुः**

1. भारतीय लोक संस्कृति का मूल सारलोकजीवन, लोकमानस और लोकभाषामें निहित है और
2. ये तत्वहिंदी साहित्य की आत्माका निर्माण करते हैं।
3. हिंदी साहित्य केवलउच्च वर्ग या दरबारी अभिजात्य वर्गकी अभिव्यक्ति नहीं है।
4. यहलोकजीवन की मिट्टी से जुड़ी भावनाओं, मान्यताओं और जीवन-मूल्योंका सशक्त दर्पण है।
5. हिंदी साहित्य के प्रत्येक युग-आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिककालमें लोक संस्कृति की स्पष्ट उपस्थिति मिलती है।
6. इन सभी युगों मेंलोक संस्कृति की गूँज निरंतर सुनाई देती है।

### 4.4.1 आदिकाल में लोक संस्कृतिः

हिंदी साहित्य के आदिकाल (1050ई.–1375ई.) में लोकजीवन और लोक संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। इस युग की रचनाएँ प्रायः वीरगाथा प्रधान हैं, जिनमें लोक-वीरों की कथाएँ, जनश्रुतियाँ और लोकगाथाएँ प्रमुख हैं। चंदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो', नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा जगनिक कृत 'परमाल रासो' जैसी रचनाएँ लोकगाथाओं से प्रभावित हैं। इन रचनाओं में युद्ध, साहस, निष्ठा, प्रेम और पराक्रम जैसे लोकमूल्यों का वर्णन हुआ है। यह साहित्य लोक की भावनाओं और उसकी सांस्कृतिक चेतना का जीवंत परिचायक है।

### 4.4.2 भक्तिकाल में लोक संस्कृति का उत्कर्षः

भक्तिकाल (1375ई.–1700 ई.) हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस काल में साहित्य लोकमानस से जुड़ा हुआ और जनजीवन में रचा-बसा दिखाई देता है। भक्ति आंदोलन ने न केवल धार्मिक चेतना को जनसामान्य तक पहुँचाया, बल्कि भाषा

को भी लोक से जोड़ा। निर्गुण भक्ति के कवि कबीर, रैदास, दादू, गुरुनानक आदि ने लोकभाषा में रचनाएँ लिखीं, जिनमें समाज-सुधार, समानता और मानवता के संदेश निहित हैं। उन्होंने कर्मकांड और बाह्याडंबर के विरोध में लोकसत्य और अनुभव को महत्व दिया।

सगुण धारा में सूरदास और तुलसीदास जैसे कवियों ने लोक संस्कृति को अपने काव्य का मूल तत्व बनाया। सूरदास के 'सूरसागर' में ग्रामीण जीवन, परिवारिक संबंधों, उत्सवों, खेलों और लोकभावनाओं का अत्यंत मार्मिक चित्रण है। यशोदा-कृष्ण संवाद, झूला झुलाने के प्रसंग, और होली-दोल की झलकियाँ लोकजीवन के जीवंत दृश्य प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से लोकभाषा अवधी में मर्यादा, भक्ति और लोकमंगल की भावना को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भक्ति को जन-जन की भाषा में ढालकर लोक संस्कृति को आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान की।

सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी की 'पद्मावत' लोककथाओं से प्रेरित काव्यकृति है, जिसमें प्रेम और आध्यात्मिकता का संगम लोकशैली में प्रस्तुत हुआ है। इन सब रचनाओं में लोक संस्कृति के तत्व जैसे—लोककथाएँ, लोकविश्वास, प्रतीक, ग्रामीण जीवन और लोकभाषाएँ—प्रमुख हैं।

### 4.4.3 रीतिकाल में लोक और दरबार का संतुलनः

रीतिकाल (1700 ई.–1900 ई.) को शृंगारकाल कहा गया है। यह युग मुख्यतः दरबारी वातावरण में विकसित हुआ, किंतु लोक संस्कृति का प्रभाव यहाँ भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ। इस युग में कवियों ने राजसी जीवन के साथ-साथ लोकजीवन के प्रसंगों को भी चित्रित किया। बिहारी की 'सतसई' में लोकभाषा की मिठास, संक्षिप्तता और प्रतीकात्मकता के माध्यम से लोकजीवन के अनेक रूप सामने आते हैं। कुछ कवि जैसे गिरधर कविराय, दीनदयाल गिरि और कवि वृंद ने भी अपने काव्य में नीति, अनुभव और लोकजीवन के चित्र उकेरे। हालाँकि इस युग का प्रमुख प्रवृत्ति-तत्वशृंगार था, फिर भी लोकगीतों, ऋतु-वर्णनों और लोक-त्योहारों के वर्णन में लोक संस्कृति की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है।

**अपनी प्रगति जाँचे:**

प्रश्न 1. 'बिहारी सतसई' में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुआ है?

प्रश्न 2."जो संस्कृति लोक की, लोक के द्वारा और लोक के लिए होती है, वही लोक संस्कृति कहलाती है"-यह कथन किसका है?

प्रश्न 3.रामचरितमानस में लोक संस्कृति का चित्रण किस प्रकार हुआ है?

प्रश्न 4. पृथ्वीराज रासो के रचनाकार कौन है?

प्रश्न 5. लोक संस्कृति का सबसे सजीव रूप क्या है?

### 4.4.4 आधुनिककाल में लोक संस्कृति का पुनर्जागरण:

आधुनिककाल (1900ई. के बाद) में लोक संस्कृति को साहित्य में नई चेतना के रूप में पुनः स्थान मिला। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने अपने नाटकों, निबंधों और कविताओं में लोकजीवन की वास्तविकता को प्रस्तुत किया। उन्होंने साधारण जन की भाषा और संस्कृति को साहित्य के केंद्र में रखा। उनके बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को सामाजिक उद्देश्य से जोड़ा और हिंदी को लोकहितकारी दिशा दी।

प्रेमचंद ने कथा-साहित्य के माध्यम से लोकजीवन की संवेदनाओं को गहराई से व्यक्त किया। उनके उपन्यास 'गोदान','रंगभूमि' और 'नमक का दरोगा' जैसी कहानियाँ भारतीय ग्रामीण संस्कृति, श्रम, संघर्ष और नैतिकता की अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने लोकभाषा, लोकरीति और लोकमानस को यथार्थ के धरातल पर उतारा। छायावाद के कवि जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने भी प्रकृति और लोकजीवन के सौंदर्य को अपने काव्य में स्थान दिया। मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में लोकधर्मी दृष्टि और भारतीय संस्कृति का गहन बोध मिलता है। आधुनिक युग में फणीश्वरनाथ रेणु जैसे लेखकों ने लोकजीवन और लोकभाषा को अपनी रचनाओं का केंद्र बनाया। उनकी कृति 'मैला आँचल' लोक संस्कृति का सजीव दस्तावेज मानी जाती है।

हिंदी साहित्य के प्रत्येक काल में लोक संस्कृति की छाप गहराई से विद्यमान रही है। चाहे वह आदिकाल की वीरगाथाएँ हों, भक्तिकाल की भक्ति और लोकभाषा की सहजता, रीतिकाल की लोक-कल्पनाएँ हों या आधुनिककाल की यथार्थवादी दृष्टि—हर युग में लोक जीवन की आभा झलकती है। हिंदी साहित्य ने लोक की चेतना, उसकी भाषा, भावनाएँ और परंपराएँ सँजोकर उसे कालजयी बना दिया। प्रकृत अर्थ में हिंदी साहित्य लोक संस्कृति का दर्पण है—जहाँ आम जन का जीवन, उसकी संवेदना और संस्कृति अमर होकर साहित्य में जीवित रहती है। यही लोक तत्व हिंदी साहित्य को विशिष्टता, आत्मीयता और सार्वभौमिकता प्रदान करते हैं।

## 4.5 लोक संस्कृति के विविध पक्ष:

मानव जीवन का प्रत्येक चरण-जन्म से मृत्यु तक, उल्लास से संघर्ष तक, गीतों से धर्मकथाओं तक-लोक-संस्कृति से गहराई से जुड़ा हुआ है। लोक-संस्कृति के जो तत्व उसे दिशा और स्वरूप प्रदान करते हैं, वे शाश्वत होते हुए भी समय और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। वे न कभी नष्ट होते हैं, न सीमाओं में बँधे रहते हैं; बल्कि सार्वभौमिकता और कालातीतता का परिचय देते हैं।समाज में प्रचलित धर्म, आचार-विचार,जीवन-दर्शन, लोकविश्वास, परम्पराएँ, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, भोजन-पद्धति, पर्व-त्योहार, मेले, लोककला, गीत, नृत्य और भाषाएँ – ये तत्व लोक-संस्कृति को सजीव और साकार बनाते हैं।

### 4.5.1 रीति-रिवाज:

लोक-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है रीति-रिवाज। परम्परा से चले आ रहे आचरण की विधि 'रीति' कहलाती है, और जब उसे समाज की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, तो वह 'रिवाज' बन जाती है। दोनों मिलकर समाज के आचरण-नियम तय करते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु जैसे संस्कारों में अनगिनत रीतियाँ दिखाई देती हैं। पूजा-अनुष्ठान, पर्व-त्योहार, उत्सव आदि सभी में इनका विशेष महत्व है। "अतिथि देवो भव" जैसी परम्पराएँ सामाजिक एकता और विनम्रता की प्रतीक हैं। हर समाज की अपनी विशिष्ट रीतियाँ होती हैं, जो उसकी पहचान बनती हैं। लोकमानव इन्हें अपने जीवन का अभिन्न हिस्सा मानता है। इन्हीं रीतियों के माध्यम से समाज में अनुशासन और एकता बनी रहती है। यदि कोई व्यक्ति इन्हें तोड़ने का प्रयास करता है, तो उसे सामाजिक विरोध या दंड का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार लोक-संस्कृति न केवल जीवन का सौंदर्य है, बल्कि समाज के नैतिक अनुशासन की आधारशिला भी है।

### 4.5.2 लोकगीत:

लोक गीत किसी समाज या राष्ट्र की संस्कृति, परंपरा और भावनात्मक चेतना के जीवंत प्रतीक हैं। ये गीत लोकमानस की अनुभूतियों, दुख-सुख, प्रेम-विरह, श्रम-संवेदना और सामाजिक व्यवहारों के सच्चे दर्पण के रूप में उभरते हैं। लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कृत्रिमता का कोई स्थान नहीं होता; ये सहज, स्वाभाविक और हृदय से उपजे हुए होते हैं। लोकगीतों में जनजीवन की सादगी, सामाजिक एकता और मानवीय संवेदनाओं का गहन चित्रण मिलता है। डॉ. वशिष्ठ के अनुसार, लोकगीतों में जीवन के प्रत्येक अनुभव—चाहे वह हर्ष हो, विषाद हो, प्रेम हो या वियोग—की सजीव अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि लोकगीत न केवल मनोरंजन का साधन हैं, बल्कि वे समाज के सांस्कृतिक इतिहास के अमूल्य दस्तावेज भी हैं। गाँवों की मिट्टी में पले ये गीत मानव जीवन के हर चरण—जन्म से मृत्यु तक—के साथ जुड़े हुए हैं।

कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों को छह प्रमुख वर्गों में बाँटा है—संस्कार, ऋतु, व्रत, जाति, श्रम और विविध गीत। संस्कार गीतों में जन्म, मुण्डन, विवाह और मृत्यु जैसे संस्कारों से जुड़े गीत शामिल हैं। वहीं ऋतु गीत प्रकृति की लय और कृषि जीवन की भावनाओं को स्वर देते हैं। स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले 'झूमर' या 'सोहर' जैसे गीत सामूहिक सौहार्द्र और सामाजिक सहभागिता के उदाहरण हैं। लोकगीत किसी जाति या क्षेत्र की सीमाओं में नहीं बँधते, बल्कि वे मानवता की एकता के प्रतीक हैं। वे बताते हैं कि भाषा, धर्म और जलवायु की विविधताओं के बावजूद भारतीय समाज भावनात्मक रूप से एक सूत्र में बँधा है। डॉ. सुरेश गौतम के शब्दों में, "गीत सृष्टि की धड़कन है, जो प्रकृति के हर कण में स्पंदित है।" वास्तव में लोकगीत मानव जीवन की आत्मा हैं, जो हमारी सांस्कृतिक विरासत को पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखते हैं।

### 4.5.3 लोकोक्तियाँ और मुहावरे:

मानव जीवन के अनुभवों से जन्मी लोकोक्तियाँ भाषा की आत्मा मानी जाती हैं। ये समाज के सामान्य लोगों की सोच, समझ और जीवन-दर्शन को संक्षेप में व्यक्त करती हैं। लोक के द्वारा कही गई और लोक में प्रचलित ये उक्तियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं। बच्चे इन्हें अपने माता-पिता से सहज रूप में ग्रहण करते हैं और समयानुसार प्रयोग करते हैं। लोकोक्तियाँ न केवल भाषा को प्रभावशाली बनाती हैं बल्कि जीवन की दिशा भी दिखाती हैं। इनमें पुस्तकीय ज्ञान नहीं, बल्कि लोकानुभव से उपजा सच्चा जीवन ज्ञान होता है। यही कारण है कि ये हर परिस्थिति में मार्गदर्शन करती हैं। लोकोक्तियाँ लोक जीवन का दर्पण हैं जो जनमानस की बुद्धि, आस्था और अनुभव को अभिव्यक्ति देती हैं।

दूसरी ओर, मुहावरे भाषा की शोभा और प्रवाह को बढ़ाने वाले विशेष वाक्यांश हैं। इनमें शब्दों का अर्थ उनके सामान्य अर्थ से भिन्न होता है। अरबी शब्द 'मुहावरा' का अर्थ है 'अभ्यास करना'। हिंदी में यह उन वाक्यांशों के लिए प्रयोग होता है जिनसे भाषा में चातुर्य, ओज और आकर्षण आता है। मुहावरों का प्रयोग भाषा को सजीव और प्रभावशाली बनाता है। ये शब्दों को नया अर्थ देकर संवाद को रोचक बनाते हैं। प्रसिद्ध विद्वानों के अनुसार, बिन मुहावरे की भाषा नीरस और अशक्त प्रतीत होती है। लोकोक्तियाँ लोक अनुभव का निचोड़ हैं, जबकि मुहावरे भाषा की लय और सौंदर्य का प्रतीक। दोनों मिलकर भाषा को सजीव, सशक्त और सरस बनाते हैं तथा मानव जीवन के व्यवहार और विचार दोनों को समृद्ध करते हैं।

### 4.5.4 परम्पराएँ और लोकमान्यताएँ:

परम्परा समाज की वह अमूल्य धरोहर हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सतत प्रवाहित होती रहती है। यह केवल रीति-रिवाजों और संस्कारों का संग्रह नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की आधारशिला है। मनुष्य जन्म के साथ ही अपने परिवार, समुदाय और परिवेश से जुड़े संस्कारों, विचारों, व्यवहारों और जीवन-पद्धति को आत्मसात करता है। यही परम्पराएँ उसके आचरण, सोच और जीवन-दृष्टि को दिशा देती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के पदचिह्नों पर चलकर जीवन का निर्वाह करता है, और आगे आने वाली पीढ़ी उसी मार्ग का अनुसरण करती है। इस निरंतर हस्तांतरण की प्रक्रिया को ही परम्परा कहा जाता है।

गिन्सबर्ग के अनुसार, परम्परा में किसी समाज के सभी विचार, आचार और आदतें सम्मिलित होती हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती हैं। हिंदी कोश में भी परम्परा का अर्थ उस प्रथा या विचार से लिया गया है, जो लंबे समय से समाज में समान रूप से चलता आ रहा हो। इस प्रकार परम्परा समाज की सांस्कृतिक निरंतरता का प्रतीक है। लोकविश्वास भी परम्परा का अभिन्न अंग हैं। मानव सभ्यता के आरंभ से ही प्रकृति,

ग्रह-नक्षत्रों, पशु-पक्षियों, वृक्षों और जीवन की विविध घटनाओं से संबंधित अनेक मान्यताएँ प्रचलित रही हैं। उदाहरणस्वरूप, आज भी बिल्ली के रास्ता काटने, शुभ नक्षत्र में यात्रा करने या चेचक को देवी का कोप मानने जैसे विश्वास समाज में विद्यमान हैं।ऐसे लोकविश्वास व्यक्ति को मानसिक संतुलनऔर आत्मसंतोष प्रदान करते हैं।

मध्यकालीन संतों से लेकर आधुनिक रचनाकारों तक ने अपने साहित्य में इन लोकपरम्पराओं और विश्वासों का उल्लेख किया है। कवि जायसी से लेकर संजीव तक के लेखन में लोक-संस्कृति की यह जीवंतता स्पष्ट दिखाई देती है। वास्तव मेंपरम्पराएँ और लोकविश्वास किसी समाज की आत्मा हैं, जो उसकी पहचान, संस्कृति और सामूहिक चेतना को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं।

### 4.5.5 लोक नृत्य:

लोक नृत्य भारतीय लोक-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह न केवल मनोरंजन का साधन है बल्कि जनजीवन की भावनाओं, आस्थाओं और उल्लास का सजीव चित्रण भी करता है। ये नृत्य प्रायः पौराणिक, धार्मिक या सामाजिक कथाओं से जुड़े होते हैं, जिनकी प्रस्तुति गीत, संगीत और वाद्ययंत्रों के माध्यम से की जाती है। संवाद या भाव-प्रदर्शन प्रायः गेय रूप में ही होता है। लोक नृत्य की भाषा लोकजीवन से जुड़ी होती है, जिसमें सहजता और सादगी झलकती है। यह किसी शास्त्रीय बंधन में नहीं बँधा होता, बल्कि जीवन की उमंग, उत्साह और सामूहिकता का प्रतीक होता है। इसमें आँखों या अंगुलियों की सूक्ष्म मुद्राओं के बजाय शरीर की बड़ी भंगिमाएँ—जैसे हाथ, पैर, सिर और धड़ की गतियाँ—मुख्य भूमिका निभाती हैं।

लोक नृत्य सामूहिक रूप से किए जाते हैं, जिनमें समाज के सभी वर्ग—बच्चे, युवा और वृद्ध—भाग लेते हैं। इन नृत्यों में सामाजिक एकता, सामुदायिक भावना और सामूहिक उल्लास का अद्भुत मेल देखने को मिलता है। पूर्वी भारत की लोक-संस्कृति में भी खेतिहर और आदिवासी समुदायजैसे-उराँव, संथाल, खड़िया और मुंडा आदि जातियों में लोक नृत्य की समृद्ध परंपरा दिखाई देती है। वास्तव मेंलोक नृत्य जनमानस की भावनाओं और आनंद की सामूहिक अभिव्यक्ति है।

### 4.5.6 लोकनाट्य:

लोकनाट्य की उत्पत्ति का आधार 'नट' शब्द में निहित है, जिसका कार्य अंग-संचालन के माध्यम से किसी व्यक्ति या परिस्थिति का जीवंत चित्र प्रस्तुत करना होता है। प्रारंभ में यह कला सामान्य क्रियाओं और धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी थी, परंतु समय के साथ यह गीत, नृत्य और अभिनय से समृद्ध होकर लोकनाट्य के रूप में विकसित हुई। लोकनाट्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक चेतना का सशक्त माध्यम है। डॉ. श्याम परमार के अनुसार, लोकनाट्य का रचयिता अज्ञात नहीं होता, क्योंकि इसमें कलाकार, दर्शक और सृजक के बीच कोई

स्पष्ट विभाजन नहीं रहता। दर्शक इसे फैशन के लिए नहीं, बल्कि अपनी परंपरा और भावनात्मक जुड़ाव के कारण देखता है। रामलीला, रासलीला, माच या ख्याल जैसे नाटकों का आकर्षण बार-बार देखने पर भी कम नहीं होता। डॉ. सुरेश गौतम का मत है कि जब लोकभाषा में गीत, नृत्य और संवाद मिलकर लोककथा को जीवंत करते हैं, तभी लोकनाट्य का सृजन होता है। पहले गाँवों में लोग स्वयं नाटक रचकर सामूहिक मनोरंजन करते थे, पर अब व्यावसायिक नाट्य मंडलियों ने उनकी जगह ले ली है। फिर भी लोकनाट्य आज भी जनजीवन की भावनाओं, परंपराओं और अनुभवों का दर्पण है, जो समाज को एकता, आनंद और सांस्कृतिक चेतना से जोड़ता है।

### 4.5.7 लोककथा:

भारत में लोक-कथाएँ सांस्कृतिक धरोहर का अमूल्य भंडार हैं, जिनमें जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश तथा अन्य अनेक प्राचीन कथाओं के रूप में लोकजीवन की झलक मिलती है। ये कथाएँ केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि लोक संस्कृति, परंपराओं, आचार-विचार और जीवन-मूल्यों की जीवंत अभिव्यक्ति हैं। इनमें नीति, शिक्षाप्रद प्रसंगों के साथ देवी-देवताओं, राजाओं, सामान्य जन, भूत-प्रेत, जादू-टोना और तंत्र-मंत्र की विविध झलकियाँ मिलती हैं। श्रीचंद्र जैन के अनुसार, लोक-कथाएँ संसार के हर कोने में विद्यमान हैं, जैसे सूर्य की किरणें सर्वत्र फैलती हैं। लोककथाओं में समाज की आस्था, संस्कृति और सामूहिक चेतना का संरक्षण निहित है।ये कथाएँ लोकमानस की कल्पनाशक्ति और अनुभवजन्य ज्ञान का परिचय कराती हैं। साधारण भाषा में कही गई ये कहानियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा से आगे बढ़ती रही हैं, जिनमें समाज की स्मृतियाँ और जीवन की सीख सहेजी गई है। लोककथाएँ मनुष्य को अपनी जड़ों से जोड़ती हैं और जीवन के मूल्यों को पुनः जाग्रत करती हैं। आधुनिक युग में जब मनुष्य प्रकृति से दूर होकर पर्यावरणीय संकटों से जूझ रहा है, तब यही लोकसाहित्य उसे प्रकृति से आत्मीय संबंध जोड़ने, संतुलित जीवन जीने और सतत विकास के मार्ग की ओर प्रेरित करता है।

### 4.5.8 खानपान:

किसी भी क्षेत्र के लोगों का भोजन-पान वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों पर आधारित होता है। जलवायु, मिट्टी, फसलों और जलस्रोतों के अनुसार प्रत्येक प्रदेश का खान-पान अलग रूप लेता है। बिहार इसका उत्तम उदाहरण है—यहाँ की भूमि अनेक नदियों जैसे कोसी, गंडक, बूढी गंडक, कमला और महानंदा से सिंचित है। कोसी जहाँ बाढ़ से नुकसान पहुँचाती है, वहीं नदियाँ उपजाऊ मिट्टी लाकर खेतों को उर्वर बना देती हैं। पश्चिमी चम्पारण जैसे क्षेत्रों में धान प्रमुख फसल है, इसलिए वहाँ चावल और उससे बने

व्यंजन लोगों के भोजन का मुख्य हिस्सा है। इस प्रकार किसी क्षेत्र का भोजन उसकी भौगोलिक पहचान बन जाता है और धीरे-धीरे परंपरा का रूप ले लेता है।

'खान-पान' शब्द का अर्थ केवल भोजन करना नहीं, बल्कि उस क्षेत्र की जीवनशैली और सांस्कृतिक आदतों से भी जुड़ा होता है। भारतीय समाज में विभिन्न जातियों और जनजातियों का खान-पान उनकी सांस्कृतिक विशिष्टता दर्शाता है। आदिवासी समुदाय का उदाहरण लें, तो उनका भोजन प्रायः प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहता है। वे जंगलों में उपलब्ध पशु-पक्षियों का मांस, मछली, कंद-मूल, फल और चावल इत्यादि का सेवन करते हैं। कुछ क्षेत्रों में वे दाल-रोटी और हरी सब्जियों से अपना पोषण करते हैं। इस प्रकार खान-पान केवल जीवन निर्वाह का साधन नहीं, बल्कि किसी समाज की संस्कृति, परंपरा और पर्यावरणीय संबंधों का जीवंत प्रतीक है।

### 4.5.9 वेश-भूषा:

खान-पान के बाद किसी समाज की सांस्कृतिक पहचान उसकी वेश-भूषा से झलकती है। व्यक्ति के रहन-सहन, सामाजिक स्थिति और सभ्यता के विकास का आकलन उसके पहनावे से किया जा सकता है। रामचन्द्र वर्मा के अनुसार-"वेश-भूषा किसी क्षेत्र या समुदाय के लोगों के वस्त्र और पहनने के ढंग को दर्शाती है।" प्राचीन काल में मनुष्य प्रकृति पर निर्भर था। वह अपने शरीर को ढँकने के लिए पत्तों, छालों या पशु-चर्म का उपयोग करता था। समय के साथ जब सभ्यता का विकास हुआ, तो वस्त्र निर्माण की कला ने भी प्रगति की और परिधान सामाजिक गरिमा एवं सांस्कृतिक प्रतीक बन गए। हिंदी साहित्य में गोरखपंथी योगियों की विशिष्ट वेश-भूषा तथा मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत में वर्णित लोकजीवन की पोशाकें उस समय की जीवनशैली को प्रकट करती हैं। गोरख युग में योगधारी वेश केवल परिधान नहीं, बल्कि साधना, त्याग और सांसारिक मोह से मुक्ति का प्रतीक था। इस प्रकार वेश-भूषा किसी समाज की संस्कृति और मानसिकता का दर्पण है।

### 4.5.10 मेला, उत्सव और त्योहार:

भारत में मेले, उत्सव और त्योहार लोक-संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। ये न केवल आनंद और उल्लास के प्रतीक हैं बल्कि सामाजिक एकता और भाईचारे का संदेश भी देते हैं। मेलों का आयोजन प्रायः देवी-देवताओं की आराधना से जुड़ा होता है। गाँवों में ऐसे मेले सामाजिक जीवन के केंद्र बन जाते हैं, जहाँ ग्रामीण लोग अपनी आवश्यक वस्तुएँ खरीदते हैं और मनोरंजन के सुखद क्षणों का अनुभव करते हैं। इन मेंलों में लोकनृत्य, गीत, और लोकनाट्य जैसी कलाएँ लोकजीवन की सजीव झाँकी प्रस्तुत करती हैं। डॉ. श्रीराम शर्मा के अनुसार, मेंलों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व अत्यधिक है क्योंकि इनमें प्राचीन परंपराओं और लोक संस्कृति की झलक मिलती है।

उत्सव समाज को एक सूत्र में पिरोने का कार्य करते हैं। ऋतु परिवर्तन के साथ आने वाले उत्सव लोगों के जीवन में नई ऊर्जा और उमंग भरते हैं। 'उत्सव' का अर्थ ही है—धूमधाम से मनाया जाने वाला मंगल अवसर। भारतीय समाज में प्रत्येक उत्सव न केवल आनंद का माध्यम होता है, बल्कि आपसी भेदभाव मिटाकर सौहार्द और सहयोग की भावना को प्रबल करता है।

भारत को 'त्योहारों का देश' कहा जाता है। यहाँ के प्रत्येक राज्य की अपनी विशिष्ट त्योहार परंपराएँ हैं—उत्तर भारत में होली, दीपावली, और दशहरा; बंगाल में दुर्गापूजा; पंजाब में बैसाखी; असम में बिहू; केरल में ओणम और तमिलनाडु में पोंगल विशेष महत्त्व रखते हैं। ये पर्व लोक-जीवन में उल्लास का संचार करते हुए भारतीय संस्कृति की समृद्धि और विविधता को सहेजते हैं। इस प्रकार मेले, उत्सव और त्योहार भारतीय लोक-संस्कृति की जीवंत धरोहर हैं।

इस भाँति यह दृष्टिगोचर होता है कि लोक संस्कृति मानव जीवन का अभिन्न अंग है। यह मूलतः अनुभव, परंपरा और मौखिक ज्ञान पर आधारित होती है।लोक संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होतीहै।

## 4.6 सारांश :

लोक-संस्कृति का आधार लोक-संस्कारों की निरंतर धारा है। इसमें गतिशीलता, प्रसार और समृद्धि का भाव निहित रहता है। इसका मूल बीज आनंद है, और प्राण है मंगल-भावना किंतु यह आनंद किसी एक व्यक्ति का नहीं, सामूहिक लोकमानस का होता है। इसी प्रकार मंगल-भावनाभी समस्त समुदाय के कल्याण की कामना में निहित है, जो समाज को जोड़ती और सशक्त बनाती है। यही सामूहिक चेतना लोक-संस्कृति की असली शक्ति है। लोक संस्कृति का मूल तत्व मनुष्य के भीतर की सहज भावनाएँ हैं। लोक के उत्सव, मेले, त्योहार, रीति-रिवाज और परम्पराएँ केवल मनोरंजन के साधन नहीं, बल्कि सामूहिक मानसिक विकास के भी माध्यम हैं। इनसे मनुष्य को अपनी जड़ों से जुड़ाव का अनुभव होता है। जब ये परम्पराएँ नष्ट होती हैं, तो समाज में मानसिक शून्यता और अलगाव की स्थिति उत्पन्न होती है।

## 4.7 प्रगति विवरण (केवल रूपरेखा):

**प्रश्न 1 का उत्तर**:'बिहारी सतसई' में लोकभाषा की मिठास, संक्षिप्तता और प्रतीकात्मकता के माध्यम से लोकजीवन के अनेक रूप सामने आते हैं।

**प्रश्न 2 का उत्तर**: यह कथन डॉ. संतराम देशवाल जी का है।

**प्रश्न 3 का उत्तर**: तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से लोकभाषा अवधी में मर्यादा, भक्ति और लोकमंगल की भावना को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भक्ति को जन-जन की भाषा में ढालकर लोक संस्कृति को आध्यात्मिक ऊँचाई प्रदान की।

**प्रश्न 4 का उत्तर**: पृथ्वीराज रासो के रचनाकार हैं-चंदबरदाई।

**प्रश्न5 का उत्तर**: लोक संस्कृति का सबसे सजीव रूप उसके लोकसाहित्य में प्रकट होता है। लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोकनाट्य और लोकसुभाषित–ये सभी लोकसाहित्य के प्रमुख अंग हैं। ये रचनाएँ किसी एक व्यक्ति की नहीं होतीं, बल्कि समाज की सामूहिक चेतना का परिणाम होती हैं।

## 4.8 अधिक जानने के लिए पढ़े:


- परमार, डॉ. श्याम.(1954). भारतीय लोकसाहित्य. नई दिल्ली:राजकमल प्रकाशन.
- राय, बाबू गुलाब.(1974-75). भारतीय संस्कृति. ग्वालियर:रवीन्द्र प्रकाशन.
- कुमार, जैनेन्द्र.(1979). साहित्य और संस्कृति. नई दिल्ली:पूर्वोदय प्रकाशन.
- पांडे, डॉ.त्रिलोचन.(1978). लोकसाहित्य का अध्ययन. इलाहाबाद:लोकभारती प्रकाशन.
- उपाध्याय,डॉ.कृष्णदेव.(1957).लोक-साहित्य की भूमिका. इलाहाबाद:साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड.
- उपाध्याय,डॉ.कृष्णदेव.(2014).लोक-संस्कृति की रूपरेखा.इलाहाबाद:लोकभारती प्रकाशन.
- गौतम, सुरेश.(2008). लोक साहित्य अर्थ और व्याप्ति. दिल्ली:संजय प्रकाशन.
- नारायण, बद्री.(2014). लोक-संस्कृति और इतिहास. इलाहाबाद: लोक भारती प्रकाशन.
- शुक्ल, जयश्री जैन.(2014). लोकसाहित्य की प्रासंगिकता. दिल्ली:भवना प्रकाशन.
- उनियाल, राजेश्वर(2014). हिंदी लोक साहित्य का प्रबंधन, दिल्ली:कल्पना प्रकाशन.


## 4.9 अभ्यास-प्रश्न:

**(क) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिए-**

1) 'Folklore'शब्द का अर्थ हिंदी मेंलिखिए।
2) डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक संस्कृति को किस प्रकार परिभाषित किया है?
3) फेंग जाइकाइ ने लोक संस्कृति के तत्व के बारे में क्या कहा है?
4) 'बीसलदेव रासो' के रचनाकार कौन है?

5) सूरसागर में लोक संस्कृति का चित्रण किस प्रकार हुआ है?

**(ख) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखिए-**

1) लोक संस्कृति परंपरा और क्षेत्र के संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए।
2) हिंदी साहित्य में लोक संस्कृति की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुआ है-विस्तृत रूप से लिखिए।
3) लोक संस्कृति के विविध पक्षों पर प्रकाश डालिए।
4) मेले, उत्सव ओर त्योहार लोक संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
5) लोक संस्कृति में मानव-जीवन की अभिव्यक्ति किस प्रकार हुई है? विस्तार से लिखिए।



This document was created with the Win2PDF “Print to PDF” printer available at

https://www.win2pdf.com

This version of Win2PDF 10 is for evaluation and non-commercial use only.
Visit https://www.win2pdf.com/trial/ for a 30 day trial license.

This page will not be added after purchasing Win2PDF.

https://www.win2pdf.com/purchase/